जैन चित्रकला

श्रीमती उषा किरण जैन

कला आत्माभिव्यक्ति का सुन्दरतम स्वरूप है। इस धरा पर मानव जाति के विकास का इतिहास कला के सुन्दरतम हाथों ही लिखा गया है। भारतीय संस्कृति इस दृष्टि से बड़ी सम्पन्न है, भारतीय सभ्यता के उदय के साथ ही भारतीय कला का इतिहास भी प्रारम्भ होता है। यों तो सिन्धु कालीन सभ्यता के काल में भी भारतीय चित्रकला के प्रमाण उपलब्ध होते हैं, परन्तु चित्रकला के आधार सामान्यतः प्राचीन मकान और वस्त्र आदि अधिक सुरक्षित न रहने के कारण, अधिक प्राचीन काल के प्रमाण कम ही प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर के बाद के काल से जन-सामान्य की रुचि चित्रकला में निरन्तर बढ़ने सम्बन्धी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। इस काल से भारतीय चित्रकला का पर्याप्त विकास और हुआ, समयानुकूल परिस्थितियों के अनुरूप उसमें विभिन्न परम्पराओं का भी विकास हुआ इनमें जैन चित्रकला की भी अपनी विशिष्ट परम्परा रही। परम्परा के प्रारम्भिक काल में यदा-कदा भित्ति चित्रों के रूप में तथा तदुपरान्त व्यापक रूप से ताड़-पत्रों, काष्ठ पट्टिकाओं के अनेक नमूने आज भी जैन भण्डारों में प्राप्य हैं। इनमें अधिकतर अपभ्रंश कालीन युग के हैं। ताड़-पत्रों, वस्त्रों और कागजों पर बने ये चित्र अत्यन्त सजीव, रोचक और कलात्मक होते थे। इनके पश्चात् कागजों पर भी चित्रांकन का कार्य प्रारम्भ हुआ।

जैन चित्रकला की प्राचीनता और उसके उदय के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। इस दिशा में अभी काफी शोध कार्य अपेक्षित है । अभी तक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय चित्रकला के अभिन्न अंग के रूप में यह परम्परा उसके उदय के समय से ही विद्यमान थी। वाचस्पति गैरोला के अनुसार" जैन कला के प्राचीन अस्तित्व की खोज निकालने के लिए हमारा ध्यान इस ऐतिहासिक दिशा की ओर उन्मुख होता है तो हमें लगता है कि उसकी दयनीयता न केवल उसके वेष विन्यास एवं भावविचारांकन के कारण विश्रुत है, अपितु भारतीय चित्रकला के इतिहास में कागद पर की गई चित्रकारी की दिशा में उसका पहला स्थान है। राजपूत परम्परा की भाँति जैन कला ऐसी प्राचीन परम्परा पर आधारित है, जो राजपूत कलम से प्राप्त सबसे प्राचीन चित्रों से भी एक शताब्दी पहले की सिद्ध होती है।"[1]

---

1. ारतीय चित्रकला; वाचस्पति गैरोला, (प्र. सं. 1963) पृष्ठ 138

समग्र भारतीय चित्र शैलियों में जितने भी प्राचीन चित्र प्राप्त हैं उनमें मुख्यता और प्राचीनता जैन चित्रों की है। ये चित्र दिगम्बर जैनियों से सम्बन्धित हैं जिन्हें अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को चित्रित करने व कराने का बड़ा शौक था। प्राकृत भाषा में रचित जैन ग्रन्थों का अध्ययन करने से तत्कालीन समाज में विद्वानों साहित्यकारों एवं जन-सामान्य में चित्रकला के प्रति अनुराग तथा निष्ठा का बोध होता है। दसवीं शती से पन्द्रहवीं शती के मध्यकाल में भारतीय चित्रकला की परम्परा में जैन व बौद्ध कला का बाहुल्य है। इससे पूर्व के काल में जैन कला का समृद्ध रूप मूर्तियों तथा मन्दिरों के शिल्प में परिलक्षित होता है। इस काल में इसका स्वरूप निखर आया था। चित्रकला के जो नमूने आज उपलब्ध हैं उनमें अधिकतर जैन साहित्य की विभिन्न कृतियों के मध्य विभिन्न सन्दर्भों में चित्रांकित हैं।

जैन कला में जहाँ मूर्तिकला और शिल्प एवम् स्थापत्य के क्षेत्र में दिगम्बर परम्परा का बाहुल्य है, वहाँ चित्रकला के क्षेत्र में श्वेताम्बरीय जैनों का महत्वपूर्ण योग रहा है। जैन का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। जैन चित्रकला गुजरात की श्वेताम्बर कलम से पूर्ण विकास की ओर अग्रसर होकर वर्षों तक राजपूताने में अपना विकास कराती रही और बाद में ईरानी प्रभावों से मुक्त होकर "राजपूत कलम" में ही विलयित हो गई। 12वीं सदी के पूर्व जहाँ मुगल शैली की विकासावस्था में जैन चित्रकला की प्रगति शिथिल पड़ गई वहाँ 12 वीं सदी के बाद महमूद गजनवी के विध्वंशों के बावजूद भी जैन चित्रकला आबू और गिरनार के केन्द्रों में अपने परिवेश में नव निर्माण की ओर अग्रसर हुई। बाद में जैन चित्रकारों ने राजपूत और मुगल शैलियों से प्रेरणा ग्रहण कर अपने क्षेत्र को और भी व्यापक बनाया।

विभिन्न प्राचीन जैन ग्रन्थों में जैन चित्रकला के विविध पक्षों का वर्णन प्राप्त होता है। कल्पसूत्र आदि में भगवान महावीर का चित्रमय वर्णन मिलता है। "प्रश्न व्याकरण सूत्र" (2/5/16) में चित्रों की अनेक श्रेणियों का उल्लेख है। इस व्याकरण ग्रन्थ में चित्रों की तीन प्रमुख श्रेणियों सचित्त (मानव, पशु, पक्षी), अचित्त (नदी, नद, पहाड़, आकाश) और मिश्र (संयुक्ता) में वर्गीकृत किया गया है। लकड़ी, कपड़े और पत्थर पर अनेक रंगों के योग से उरेहे गए चित्रों को "लेपकम्प" कहा है। लोककला के उन्नत स्वरूप के रूप में इस काल में अल्पना चित्रों का भी अंकन किया जाता था। साथ ही मिट्टी-पत्थर व हाथीदांत पर भी चित्र उरेहे जाते थे। एक कथाकृति "नाया-धम्म कहाओ" (1/16/77-80) से विदित होता है कि चम्वा नामक नगरी में ललित गोष्टी (ललियाएणामं गोठ्ठी) नाम की एक प्रमोद सभा विद्यमान थी। इस ग्रन्थ में लिखा है (1/1/17) कि महाराज श्रेणिक के महल में दीवारों पर बड़े अच्छे चित्र उरेहे हुए थे। इसी ग्रन्थ में इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरणों का भी उल्लेख है।

इस कला की अनेक जैन साहित्यिक रचनाओं में भी चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख हैं। श्री गेरोला के अनुसार "11वीं-12वीं शताब्दी में रचित जैन साहित्य की कथा कृतियों में चित्रकला के सम्बन्ध में बड़ी ही उपयोगी चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। मागधी प्राकृत की कथा कृति "सुर सुन्दरी कहा" (रचनाकाल 1338 ई.) में श्लेषोक्ति के द्वारा किसी नायक की एकान्त प्रेमासक्ति को भ्रमर और कुमुदनी का चित्र बनाकर व्यक्त किया गया है। प्राकृत भाषा की दूसरी कथाकृति "तरंगवती" (सम्भवत: आंध्रभृत्य राजाओं के आश्रय में निर्मित) में नायिका तरंगवती द्वारा एक चित्र प्रदर्शनी का आयोजन इस उद्देश्य से किये जाने का उल्लेख है कि कदाचित इस लोभ से उसका रूठा हुआ प्रेमी वहां आ जाय।[2]

---

2. भारतीय चित्रकला—वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 93।

"आचारांग सूत्र" (2/2/3/13) में जैन साधुओं और ब्रह्मचारियों को चित्र शालाओं में जाने और ठहरने से वर्जित किया गया है । जैनाचार्य हेमचन्द्र (1082-1172 ई.) के महाकाव्य "त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित" में तत्कालीन राज दरबारों में अनेक चित्रकारों की सभा होने का वर्णन है, जो भित्तिचित्रों से सुसज्जित हुआ करती थी ।

प्रभावक चरित्र के "बप्पभट्ट सूरि चरित्र" (सम्वत 1334) में नवीं शताब्दी में भगवान महावीर के चित्रपटों के बनाने का उल्लेख है । "बप्पभट्टि सूरी जी को चित्रकार ने महावीर की मूर्ति वाले चार चित्रपट्ट तैयार करके दिये । सूर जी ने उनकी प्रतिष्ठा करके एक कन्नौज के जैन मन्दिर में, एक मथुरा में, एक अणहिल्ल पाटण में, एक सत्तारकपुर में भेज दिये गये जिनमें से पाटणवाला पट्ट मुसलमानों ने पाटण को नष्ट किया तब तक वहाँ के मोढ़गच्छ के जैन चैत्य में विद्यमान था। नवीं शताब्दी में महावीर के चार चित्रपट्ट बनाये जाने का उल्लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । परन्तु खेद है कि आज उनमें से एक भी प्राप्त नहीं है । हरिभद्र सूरि ने आवश्यक वृत्ति में समवशरण चित्रपट्ट का उल्लेख किया है ।"[3]

बारहवीं से सोलहवीं शती के मध्य श्वेताम्बरी जैनों द्वारा अपभ्रंश शैली के अनेक ताडपत्रीय ग्रन्थ चित्रों की रचना की गई । इनमें से कुछ, यदा—"निशीथ चूर्णी" "अंग सूत्र", "दशवैकालिक लघुवृत्ति", "ओध नियुक्ति", "त्रिषष्टि शालाका पुरुष चरित", "नेमिनाथ चरित", 'कथा सरित्सागर" "संग्रहणीय सूत्र", "उत्तराध्ययन सूत्र", "कल्प सूत्र" और "श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णी" आज भी पोथियां, पाटन, खंभात, बड़ौदा और जैसलमेर आदि के ग्रन्थकारों तथा अमरीका के बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित हैं ।

इस काल के चित्रों की शैली के सम्बन्ध में कला मर्मज्ञों के विभिन्न मत हैं । प्रारम्भ में तो इसे "जैन शैली के नाम मे ही सम्बोधित किया जाता था परन्तु बाद में इस आधार पर कि इस शैली के चित्र जैनेतर और बैष्णव ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं, रायकृष्णदास ने इसे अपभ्रंश शैली के नाम से सम्बोधित किया है । जौनपुर इस शैली का प्रमुख केन्द्र माना जाता है । अहमदाबाद के श्री साराभाई माणिक लाल ने अपभ्रंश शैली से सैकड़ों सादे और रंगीन चित्रों से युक्त एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "चित्र कल्पद्रुम" (कल्पसूत्र) प्रकाशित किया है जिसका लिपि काल 1465 ई. (1522 वि.) है ; इस शैली के कागद पर निर्मित ग्रन्थ चित्र और स्फुट चित्र बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं । इनमें से एक रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई में और दूसरी लीभणी के सेठ आनंद जी कल्याण जी के पास बताई जाती हैं । इनका लिपिकाल 1415 ई. है । जौनपुर की "कल्पसूत्र" इसकी तीसरी प्रति है जो स्वर्णाक्षरों में अंकित है और संप्रति बड़ौदा के नरसिंह जी पोल के ज्ञान मन्दिर में सुरक्षित है । यह प्रति 14 7 ई. में जौनपुर के बादशाह हुसैन शाह शर्की के समय चित्रित की गई थी । कल्पसूत्र की एक चौथी प्रति अहमदाबाद निवासी मुनि दया विजय जी के संग्रह में है, जिसको 15 वीं शती के उत्तरार्द्ध का माना जाता है । यह भी स्वर्णाक्षरों में अंकित है, इसमें अंकित चित्र अपभ्रंश शैली के सर्वश्रेष्ठ चित्र माने जाते हैं ।

किसी भी कला या उसकी किसी शैली की रूपरेखा का परिचय प्राप्त करने के लिये उसके प्रमुख प्रतीकों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है । इस दृष्टि से जैन कला में जो प्रमुख प्रतीक हमें प्राप्त होते हैं उनमें तीर्थंकर महावीर की माता त्रिशला को हुए स्वप्नों के चित्र बहुतायात में प्राप्त होते हैं । उनमें एरावत हाथी,

---

3. भगवान महावीर चित्रावली—अगरचन्द्र नाहटा, वीर परिनिर्वाण सितम्बर 1974, पृष्ठ 11 ।

केशरी सिंह, वृष (बैल), पद्मावती (कमल के सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी), पुष्प मालाएँ, सूर्य, चन्द्र, स्वर्ण कलश, सरोवर, समुद्र, विमान (पालकी), रत्न भण्डार, अग्नि मीन युगल व विशाल गगनचुम्बीभवन आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त स्वास्तिक, श्रीवत्स, नंदियावत, वर्द्धमानक्य, भद्रासन, दर्पण आदि प्रतीकों को आयागपटों पर बहुत ही कुशलतापूर्वक चित्रित किया गया है। इसके साथ ही चौवीस तीर्थंकरों और उनके प्रतीकों व चिन्हों को भी चित्रित किया गया। इनमें भी चार तीर्थंकरों महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और ऋषभनाथ के चित्र अधिकांश मात्रा में प्राप्त होते हैं। इनका वर्ण क्रमशः पीत (पीला), नीला, काला तथा स्वर्णिम, प्रतीक चिन्ह क्रमशः केसरी सिंह, सर्प, शंख व वृष तया दीक्षातरु क्रमशः अशोक, घातकी, वेघस्, कदली अंकित किये गए हैं।

तीर्थंकरों के आसन के रूप में 'ईषत्प्रभभार' या 'सिद्ध शिला' अंकित की गई है जो तिर्यक् अर्द्ध चन्द्राकार के स्वरूप की हैं। इसके अतिरिक्त समवशरण की भी रचना की गई है। यह वह स्थान है जहाँ बैठकर तीर्थंकर उपदेश देते थे। इस स्थान का स्वरूप सामान्यतः वृत्ताकर और यदाकदा वर्गाकार भी प्राप्त होता है। इसे मणि-माणिक्य एवं सुवर्ण से सजाया जाता था। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन के अनुसार त्रैलोक्य रचना, ब्रह्माण्ड सृष्टि' और पौराणिक चित्र भी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

जैन कला के प्रतीक के रूप में नारी-रूपों का चित्रण बहुत ही कम हुआ है। नारी चित्रों के न्यूनतम उपयोग के वावजूद भी जैन कला की समृद्धि उसका ऐसा महत्वपूर्व गुण हैं जो विश्व में प्राप्त चित्रकला की विभिन्न विधाओं में उसे मौलिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है। जैन कला में यदाकदा ही नारी चित्र प्राप्त होते हैं। नारी चित्रण के क्षेत्र में कुछ चित्रों में तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों में यक्ष-यक्षणियों के चित्र तथा तीर्थंकरों की अधिण्ठात्री देवियाँ अम्बिका, पद्मावती, सरस्वती, शासन, चक्रेश्वरी तथा सोलह् विद्या देवियों के चित्र अंकित किये गए हैं।

रंग योजना की दृष्टि से जैन कलाकृतियों का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल में इनमें हल्दिया रंगों का प्रयोग अधिक मात्रा में होता था। बाद में लाल रंग का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में होने लगा। इसके अतिरिक्त आसमानी, पीले, नीले तथा श्वेत रंगों का भी समावेश किया गया है। बाद में इनमें सुनहरी स्याही का भी अधिकाधिक प्रयोग होने लग गया।

वस्त्राभूषणों की दृष्टि से जैन कला में मुकुटों और मालाओं की सज्जा पर अधिक ध्यान दिया गया है। स्त्रियों की श्रृंगार सज्जा के रूप में माथे पर बिन्दी, कानों में कुण्डल और बाहों में बाजूबन्द अंकित किये गए हैं। गले में रत्नमालाओं को प्रधानता दी गई है जो लगभग सभी चित्रों में प्राप्त होती हैं तथा गले से लेकर पैरों तक सारी आकृति को घेरनेवाली मालाओं तक, अनेकों प्रकार से अंकित हैं। वस्त्रों में धोतियों की सज्जा मोहक है। प्रारम्भिक चित्रों में वस्त्रों में मोती जैसे श्वेत तथा स्वर्णिम रंग की प्रधानता है, जिसका स्थान बाद में ईरानी प्रभाव के कारण हल्की छाप, बेल-बूटों की जगह पच्चीकारी तथा स्वर्णीय रंगों के काम ने ले लिया। पश्चातवर्ती चित्रों में मुकुटों के स्थान पर पाग (पगड़ियों) का भी अंकन किया गया। जहाँ पुरुषों के वस्त्रों में धोती व दुपट्टे प्रमुख हैं वहाँ नारी चित्रों में कंचुकी, रंगीन धोती, चूनरी और कटिपट का प्रयोग किया गया है।

चित्रों में आकार एवं अनुपात का भी पूरा ध्यान रखा गया है। प्रख्यात कला समीक्षक श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार "चित्रों का आकार एकचश्म, डेढ़ चश्म और दोचश्म है। एक चश्म या डेढ़ चश्म वाले चित्रों में ठोढ़ी सेब की तरह बाहर की ओर उभर आयी है और उसके नीचे की रेखा में गौरव, गर्व तथा

अभिमान को प्रकट करने के उद्देश्य से झोल दे दिया गया है। दो चश्म आकार के खड़े हुए जैन मुनियों की ठोड़ी में त्रिशूल की भाँति तीन रेखाएँ और नासिका, भाल की नोक की तरह अंकित है। भवें और नयनों का फैलाव समरूप है। एक चश्म तथा डेढ़ चश्म चेहरों में नासिका शुकचंचु की भाँति नुकीली और अनुपात से अधिक लम्बी हो गयी है। नेत्र उठे हुए तथा बाहर की ओर उभरे हुए हैं। उनकी लम्बाई कर्णभाग को छूती है, वस्तुतः नेत्रों और नासिका के चित्रण में जैन कलाकारों की निपुणता की तुलना नहीं है।"[4]

इस प्रकार जैन चित्रकला की परम्परा के अन्तर्गत जो कार्य हुआ उसने भारतीय चित्रकला के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। चित्रकला के क्षेत्र में राजपूत और मुगल शैलियों के पूर्व भी महत्वपूर्ण कार्य इस देश में जैन चित्रकला के माध्यम से हुआ। भारतीय चित्रकला को जैन चित्रकला ने ऐसी अनुपम सचित्र कृतियाँ दी हैं जो भावाभिव्यक्ति, सौन्दर्य बोध, रंग योजना, वर्ण-आकार–सज्जा के अद्भुत सामंजस्य के कारण सजीव बन पड़ी हैं। इसने चित्रकला की अगली परम्पराओं राजपूत और मुगल शैलियों को नवीन प्रवृत्तियाँ तथा प्रगतिशील तत्व दिये हैं।

जैन चित्रकला ने अपने से उत्तरकालीन सभी शैलियों पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। हिन्दू राजपूत कला जैन चित्रशैली से अत्यधिक प्रभावित हुई। भारतीय चित्र शैलियों में बेलबूटों की बनावट की जन्मदात्री सर्वप्रथम जैन कला ही रही। जैन चित्रकला हिन्दू चित्रकला शैलियों के अति निकट रही है। विषय वस्तु के रूप में भी जैन कला में स्वयंभू राम और नेमिनाथ हिन्दू कला के राम और कृष्ण के समान एवं समकालीन हैं। हिन्दू शैलियों की सरस्वती, इन्द्र, वरुण, काली आदि यक्ष-यक्षिणी तथा अन्य रूपान्तरों में जैन कला में भी प्राप्त होते हैं। पश्चात्वर्ती काल में जैन कला हिन्दू कला के साथ एकाकार करती प्रतीत होती है। एक मुख्य असमानता जो जैन और हिन्दू कला के मध्य सदैव विद्यमान रही वह थी हिन्दू कला में नारी चित्रों तथा अति शृंगारिक चित्रों के अंकन के सम्बन्ध में। हिन्दू कला स्थूल मांसलता की ओर अग्रसर हो, राग-रागिनी, नख-शिख तथा बारहमासा आदि विषयों में संलग्न होती गयी तब भी जैन कला में अपनी परम्परागत धार्मिक निष्ठा स्थिर रही। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों हिन्दू कला राजप्रसादों में सिमटती गई और विलासितामयी जीवन के चित्रण में लगती गई, त्यों-त्यों जैन चित्रकला की प्रगति शिथिल होती गई।

बौद्ध कला भी जैन कला से कई स्थानों पर सामंजस्य करती प्रतीत होती है। जैन कला में जिस प्रकार कथाओं को कई स्थानों पर आधार बनाया गया है, उसी प्रकार बुद्धकला का भी मुख्य आधार जातक कथाएँ हैं। पन्द्रहवीं शती के पूर्व जैन एवं बौद्ध कलाओं की ही कृतियाँ उपलब्ध हैं। जैन कला ने बौद्ध कला की अलंकरण प्रवृत्ति से सामंजस्य स्थापित किया है। एक मुख्य अन्तर जो इन दोनों में पाया जाता है वह यह कि बौद्ध कला भित्ति चित्रों पर अधिक केन्द्रित रही जबकि जैन कला में भित्ति चित्रों के पश्चात् ताड़पत्रों तथा कागज पर चित्रांकन को प्रमुखता दी गई और वह ग्रन्थ चित्रों की ओर अधिक आकर्षित हुई। बौद्ध कला ने राज्य संरक्षण प्राप्त कर तथा विलासिता पूर्ण, शृंगारिक चित्रों तथा नारी चित्रों का अंकन अपने क्षेत्र को और व्यापक बनाते हुए जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना विकास किया वहाँ जैन कला ने सिद्धांतों के मूल्य पर कभी परिस्थिति से

---

4. भारतीय चित्रकला—वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 142।

समझौता नहीं किया और सदैव धार्मिक आधारों का कठोरतापूर्वक पालन किया।

भारतीय चित्रकला के विकास में जैन कलाकारों ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। दसवीं से पन्द्रहवीं शती के बीच का काल तो शुद्ध रूप से मुख्यत: जैन कला का ही काल रहा है। इस युग में पूर्व परम्परा को जीवित रखकर जिस निष्ठा और लगन के साथ जैन कलाकारों ने जैन शैली को विकसित किया और भविष्य में राजपूत एवं मुगल शैली को जो नये प्रयोग एवं भाव विधान दिये, उनके लिए भारतीय चित्रकला जैन चित्रकला की परम्परा की ऋणी है। तिब्बत, नेपाल और गढ़वाल में कपड़े पर चित्रांकन की प्राचीन परम्परा के अनुरूप भारतीय कला में वस्त्रों पर अंकन व लेखन की सामग्री जैन कला में ही उपलब्ध होती है। श्रद्धेय मुनि कांति सागर ने अपने एक गवेषणात्मक लेख[5] में ताड़पत्रों, वस्त्रों तथा कागजों आदि पर निर्मित जैन चित्रों, उनके चित्रकारों एवं ग्रन्थकारों का वृहद वर्णन किया है। उनके संग्रह के अतिरिक्त लखनऊ, इलाहाबाद, कलकत्ता आदि के संग्रहालयों तथा अनेक व्यक्तिगत संग्रहों में वस्त्रचित्रों के मूल्यवान एवं दुर्लभ नमूने प्राप्त होते हैं। वाशिंगटन की फेयर आर्ट गैलरी में सुरक्षित "वसंत विलास" नामक कृति (1508 वि. में लिखित) वस्त्र पर चित्रित विज्ञप्ति पत्रों की अपने ढंग की विश्व भर में चित्रकला में अद्वितीय कृति मानी जाती है। ब्रिटिश म्यूजियम में भी जिनभद्रसूरि के समय का जैन शास्त्रों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला एक बहुमूल्य एवं वृहत पट्ट चित्र आज भी सुरक्षित है जिसे मुगल-राजपूत शैलियों से पूर्व का सर्वश्रेष्ठ पट्ट चित्र माना जाता है। नाहटा कला भवन बीकानेर में भी इस प्रकार के सुन्दर वस्त्रचित्र सुरक्षित हैं।

भारतीय चित्रकला जैन कलाप्रेमियों के कलात्मक वस्तुओं की सुरक्षा के विशिष्ट गुण की भी विशेष ऋणी है जिसके कारण चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती के क्रांतिमय समय में भी, जबकि अल्लाउद्दीन खिलजी जैसे सरदारों ने जहाँ भी हिन्दू कलाकृति देखी नष्ट करदी, जैन विद्वानों ने जी जान से अपनी कला परम्परा या यों कहें कि तत्कालीन भारतीय कला परम्परा की रक्षा की। इन दिनों कागज के स्थान पर काश्मीरी कागज स्वर्णमयी एवं रजतमयी स्याही से मूल्यवान चित्रों एवं पोथियों का निर्माण किया गया। मुनि कान्तिसागर के अनुसार "कल्पसूत्र" की एक प्रति, जो अहमदाबाद में सुरक्षित है, इतने महत्व की प्रमाणित हो चुकी है कि उसका मूल्य सवा लक्ष रुपये तक आँका जा चुका है। भारतीय नाट्य, संगीत और चित्रकला तीनों दृष्टियों में उसका स्थान अपूर्व है। इन चित्रों में राग-रागिनी, मूर्छना, तान आदि की योजना संगीत शास्त्र के अनुसार है, और आकाशचारी, पादचारी, मोमचारी, वगैरह भरतमुनि के "नाट्यशास्त्र" में वर्णित नाट्य के विभिन्न रूप बड़े ही भाव पूर्ण हैं। प्रत्येक के मुखमुद्रा उनके हृदयगत भावों का स्पष्टीकरण करते हुए विविध रूप उत्पन्न कर साधारण मानव को भी अपनी ओर आकृष्ट करती है यही उक्त प्रति की कुछ विशेषताएँ हैं।[6]

जैन चित्रकारों द्वारा रंगों और रेखाओं के प्रति पूर्ण सजगता बरती गई है। इनका सबसे सुन्दर स्वरूप

---

5. "जैनों द्वारा पल्लवित चित्रकला"—लेखक—मुनि कांतिसागर, "विशाल भारत" दिसम्बर 1947; भाग 40, अंक 6, पृष्ठ 341–348।
6. तदैव।

ताड़पत्रों पर निर्मित चित्रों में देखने को मिलता है जहाँ बारीक रेखाओं द्वारा अल्प स्थान में ही निर्मित चित्रों में कलाकारों ने अपनी प्रतिभा एवं कौशल का पूर्ण प्रदर्शन किया है। जैन शैली के चित्रों में नेत्रों की बनावट पर विशेष ध्यान दिया गया है। ताड़पत्रों पर अंकित सूक्ष्म रेखाऐं इतनी सार्थक हैं कि उनके कारण चित्र में पूर्ण सजीवता प्रतीत होती है जिन्हें देखकर कोई भी कलाकार इनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। जैन पोथियों के बाहर सुरक्षा के लिए बँधी लकड़ियों की तख्तियों पर भी सुन्दर चित्रकारी देखने को मिलती है। जैसलमेर के जैन मन्दिरों में ऐसी जितनी भी लकड़ी की सचित्र तख्तियाँ थीं उनके चित्र लेकर उन्हें सुरक्षित रखा गया है, अन्य जैन शास्त्र भण्डारों में भी ऐसा किए जाने की आवश्यकता है।

इस प्रकार जहाँ जैन धर्मानुयायियों ने करोड़ों रुपया व्यय कर कला का पोषण किया है वहाँ जैन मुनियों ने भी एकाग्रभाव से तन्मयतापूर्वक हजारों ग्रन्थों की प्रतिलिपि एवं स्वतन्त्र रचना कर कला की समृद्धि में महान योग दिया है। जैन ग्रन्थकारों की कृतियों में एक और विशिष्ट विशेषता देखने को मिलती है, कि अनेक कृतियों में लिखने के बीच-बीच इस ढ़ग से खाली स्थान छोड़ा गया है कि अपने आप छत्र, कमल, स्वस्तिक आदि उभर आते हैं। जैन चित्रकारों में जहाँ जैन परम्परा के विकास का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है वहाँ अन्य परम्पराओं के विकास में भी कई जैन कलाकारों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में जैन कलाकारों द्वारा जहाँ "मार्कण्डेय पुराण" तथा "दुर्गा सप्तमी" जैसे जैसे वैष्णव ग्रन्थों के चित्र निर्मित किए गये हैं, वहाँ सोलहवीं-सत्रहवीं शती में जहांगीर के दरबारी चित्रकारों में सालिवाहन नामक जैन चित्रकार द्वारा "आगरा का विज्ञप्ति पत्र" (1667 वि.) तथा मतिसार चित्र "धन्नाशालिभद्र–चौपई, का भी चित्रांकन किया गया। इसी प्रकार अकबर के काल में समय सुन्दर नामक जैन मुनि द्वारा "अर्थ रत्नावली" नामक एक ग्रन्थ की रचना कर बादशाह को भेंट किया गया।

इस प्रकार जैन धर्म के प्रति अपनी अटूट निष्ठा को स्थिर रख जैन कलाकारों ने जैन कला का जिस धैर्य, निष्ठा व विश्वास के साथ चित्रांकन किया वह विश्व में अपनी सानी नहीं रखता। राज्याश्रयों के विलासितापूर्ण वातावरण से विलग तथा धार्मिक सीमाओं से बँधे रहने के कारण जैन चित्रकला में लोक जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति हुई है। उसकी आकृतियों, रेखाओं और साज-सज्जा आदि सभी में लोककला का समर्थ रूप विद्यमान है उसमें वैसे ही लोक सौन्दर्य एवं लोक संस्कृति के तत्व छिपे हैं जैसे सांची और भरहुत की कृतियों में है। इसलिए लोककला का जो वास्तविक प्रतिनिधित्व जैन कला में समाहित है, वैसा न तो बौद्ध कला में दिखाई देता है और न राजपूत कला में है।[7]

---

[7] भारतीय चित्रकला—वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 143।